International Journal of Humanities and Social Science Invention (IJHSSI)
ISSN (Online): 2319 – 7722, ISSN (Print): 2319 – 7714
www.ijhssi.org ||Volume 7 Issue 02||February. 2018 || PP.84-86

लोकसाहित्य: देश, समाज व संस्कृति की आवाज

डॉ0 विनीता रानी
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
के0 जी0 के0 पी0 जी0 कॉलेज, मुरादाबाद उत्तर प्रदेश

सारांश
लोक साहित्य शब्द अंग्रेजी के फोकलोर शब्द का अनुवाद है, जिसका सर्वप्रथम प्रयोग अंग्रेजी के विद्वान विलियम टाम्स ने किया था। इसी फोकलोर के समकक्ष हिन्दी में लोकसाहित्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। भारतीय लोक साहित्य जनता के व्यापक जनसमूह की सभी मौलिक सर्जनाओं का परिणाम है। यह केवल लोक काव्य या गीतों तक ही न सीमित न होकर जनता के जीवन धर्म, संस्कृति तथा परम्पराओं से भी जुड़ा हुआ है। फिर भारतीय लोक साहित्य की विशालता के समक्ष शिक्षितों का साहित्य दाल में नमक के बराबर भी नहीं है। आवश्यकता है तो बस इसके संग्रह की। लोक साहित्य जनता के कंठों में देश के सभी राज्यों, भाषाओं और छोटी -छोटी बोलियों के रूप में भरा हुआ है।

प्रस्तावना

लोक सहित्य का अभिप्राय उस साहित्य से है जिसकी रचना लोक करता है। लोक-साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव, इसलिए उसमें जन-जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है। डॉ॰ सत्येन्द्र के अनुसार- "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।"

साधारण जनता से संबंधित साहित्य को लोकसाहित्य कहना चाहिए। साधारण जनजीवन विशिष्ट जीवन से भिन्न होता है अत: जनसाहित्य (लोकसाहित्य) का आदर्श विशिष्ट साहित्य से पृथक् होता है। किसी देश अथवा क्षेत्र का लोकसाहित्य वहाँ की आदिकाल से लेकर अब तक की उन सभी प्रवृत्तियों का प्रतीक होता है जो साधारण जनस्वभाव के अंतर्गत आती हैं। इस साहित्य में जनजीवन की सभी प्रकार की भावनाएँ बिना किसी कृत्रिमता के समाई रहती हैं। अत: यदि कहीं की समूची संस्कृति का अध्ययन करना हो तो वहाँ के लोकसाहित्य का विशेष अवलोकन करना पड़ेगा। यह लिपिबद्ध बहुत कम और मौखिक अधिक होता है। वैसे हिंदी लोकसाहित्य को लिपिबद्ध करने का प्रयास इधर कुछ वर्षों से किया जा रहा है और अनेक ग्रंथ भी संपादित रूप में सामने आए हैं किंतु अब भी मौखिक लोकसाहित्य बहुत बड़ी मात्रा में असंगृहीत है।

लोक जीवन की जैसी सरलतम, नैसर्गिक अनुभूतिमयी अभिव्यंजना का चित्रण लोकगीतों व लोक-कथाओं में मिलता है, वैसा अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। लोक-साहित्य में लोक-मानव का हृदय बोलता है। प्रकृति स्वयं गाती-गुनगुनाती है। लोक-साहित्य में निहित सौंदर्य का मूल्यांकन सर्वथा अनुभूतिजन्य है।

आज का लोक साहित्य कल के लोक मानस की मौखिक सर्जना का परिणाम है। इसमें मानवता के विकास की उस समय की संस्कृति निहित एवं सुरक्षित है, जिस समय समाज में लेखन पद्धति का प्रादर्भाव भी न हुआ था और मनुष्य अपनी सर्जनाओं को मौखिक ही कण्ठस्थ कर लेता था, इसीलिए लोक साहित्य एक ऐसा पालना है कि जिसमें लेखन प्रणाली से पूर्व की मानव संस्कृति की अमूल्य निधि, धर्म, दर्शन, संस्कृति, परम्परायें, रीति -रिवाज, लोकाचार, संस्कार, कर्मकाण्ड, नृत्यगान काव्य -कथायें, नाटक आदि झूलते और खेलते रहे हैं।

यह शब्द विनिमय का प्रथम कला पूर्ण प्रारम्भ भी है, जिसके द्वारा यंत्र -मंत्र, जंत्र -तंत्र, पहेली, मुहावरे, लोकोक्तियों, लोककथाओं, गीतों आदि के रूप में प्रत्येक जाति अपनी जीवन पद्धति और उसकी प्रणालियों को आगे आने वाली पीढ़ी को सौपती रही है।यही कारण है कि इसमें प्राचीन युग का साहित्य, धर्म दर्शन, विश्वास, संस्कार, कर्मकाण्ड तथा काल आदि सभी कुछ एक साथ प्राप्त होता है और इसी के द्वारा किसी भी देश, समाज व जाति की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा बौद्धिक उन्नति को समझा जा सकता है।

जिसमें ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन इतिहास की भांति न कर सामान्य जनता के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर किया जाता है। फिर लोक साहित्य की रचना जनता के ही कुशल शिल्पियों ने की है जो जनता की स्मृति में खो गये, लेकिन अपनी पहचान समाज में फैली हुई लोक कृतियों में छोड़ गये तथा जो जनता के मध्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक निरन्तर चलती और विकसित होती रही।

आदिकाल से श्रुति एवं स्मृति के सहारे जीवित रहनेवाले लोकसाहित्य के कुछ विशेष सिद्धांत हैं। इस साहित्य में मुख्य रूप से वे रचनाएँ ही स्वीकार की जाती हैं अथवा जीवन पाती हैं जो अनेक कंठों से अनेक रूपों में बन बिगड़कर एक सर्वमान्य रूप धारण कर लेती हैं। यह रचनाक्रम आदिकाल से अबतक जारी है। ऐसी बहुत सी साहित्यक सामग्री आज भी प्रचलित है जो अभी एकरूपता नहीं ग्रहण कर पाई हैं। परंपरागत एवं सामूहिक प्रतिभाओं से निर्मित होने के कारण विद्वानों ने लोकसाहित्य को "अपौरुषेय" की संज्ञा दी है।

निश्चय ही परंपरागत लोकसाहित्य किसी एक व्यक्ति की रचना का परिणाम नहीं है। वैसे तो इसके कई प्रमाण दिए जा सकते हैं कि एक ही गीत, कथा या कहावत एक स्थल पर जिस रूप में होता है दूसरे स्थल पर पहुँचते-पहुँचते उसका वह रूप बदल जाता है किंतु एक अच्छा प्रमाण यह होगा कि सैकड़ों वर्ष से गाए जानेवाले लोकमहाकाव्य आल्ह-खंड को आज तक एकरूपता नहीं प्राप्त हो सकी। इस कार्य में लोकप्रवृत्ति किसी प्रतिबंध को स्वीकार ही नहीं करती। स्फुट गीतों में तो केवल पंक्तियाँ ही इधर उधर होती हैं किंतु प्रबंध गीतों (गाथाओं) एवं कथाओं में घटनाएँ भी बदलती रहती हैं। यह सब होते हुए भी उन प्रबंधों एवं कथाओं के परिणामों में प्राय: कोई परिवर्तन नहीं स्वीकार किया जाता। परिणाम एवं लोकप्रचलित सत्य तथा तथ्य को आधार मानकर घटनाचक्र मनमाने ढंग से चलाए जाते हैं। रामकथा को ही लें। "नाना भाँति राम अवतारा, रामायन सत कोटि अपारा" वाली बात शत प्रतिशत सत्य है। रामकथा संबंधी जितनी विविधताएँ लोकसाहित्य में प्रचलित हैं यदि उन सब को एकत्र किया जाए तो यह विचित्र प्रकार का "लोकरामायण" ग्रंथ तैयार होगा जो अबतक के सभी रामाख्यानों से भिन्न अस्तित्व का होगा। घटनाचक्रों को देखते हुए कभी-कभी तो उनकी संगति बैठाना भी कठिन हो जाएगा। उदाहरणस्वरूप लोकगीतों में भी रामजन्म के कई कारण हैं किंतु एक बहुत ही साधारण कारण यह है कि एक बार जब महाराज दशरथ प्रात: काल सरयू में स्नान करने जा रहे थे तो उनका दर्शन सवेरे ही गली में झाड़ू देनेवाली हेलिन (भंगिन) को हो गया। उसने ताना मारा कि आज प्रात: काल ही संतानहीन व्यक्ति का दर्शन हुआ, पता नहीं दिन कैसे बीतेगा। दशरथ को यह बात लग गई और तभी वे रानी समेत पुत्रप्राप्ति के लिए वन में तप करने चले गए। इस प्रकार कारण दूसरा दिखाते हुए भी लोककथाकार दशरथ को फिर तपस्यावाले स्थल पर ले आता है जहाँ कथा अन्य रामायणों की कथा से मिल जाती हैं।

ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं जो परिणाम में तो नहीं किंतु घटनाओं के मामले में एक नहीं हैं। ऐसे परिवर्तनों एवं संशोधनों को लोकसाहित्य बहुत ही आसानी से स्वीकार कर लेता है। इस साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह अनेक रूपों में होते हुए भी अनेकता में एकता की भावना से युक्त होता है। भाषा के कलेवर को बदलकर भी भावपक्ष में कोई परिवर्तन नहीं दीखता। एक ही रचना जो किसी स्थल पर वहाँ की बोली में पाई जाती है, वही बहुत दूर दूसरी बोली में भी मिल जाती है। स्फुट गीतों के भावों एवं प्रबंधों की कथाओं की यह यात्रा कभी कभी तो इतनी लंबी होती है कि आश्चर्य होता है। क्षेत्रों एवं देशों की सीमा मनुष्य भले ही निर्धारित कर दे पर लोकसाहित्य इसे स्वीकार नहीं करता। ऐसा शायद इसलिए संभव हुआ होगा कि यात्राकाल में प्राचीन मानव जब कभी दूर गया होगा तो अपना साहित्य साथ लेता गया होगा और गंतव्य स्थान पर उसकी छाप छोड़ आया होगा जिसे वहाँ के लोगों ने स्वीकार कर लिया होगा। यह क्रम आज भी जारी है। जब कोई ग्राम्या नैहर से ससुराल जाती है तो स्वभावत: वह नैहर की उन लोकरचनाओं को अपने साथ लेती जाती हैं जो उसे स्मरण रहती हैं। यदि उसका विवाह मायके की बोलीवाले क्षेत्र में हुआ तब तो कोई बात नहीं, किंतु अन्य बोली के क्षेत्र में विवाह होने पर वह नैहर के गीतों को स्थानीय बोली के लहजों में ढाल लेती है। उस इस कार्य में ससुराल की ग्राम्याओं द्वारा भी सहायता मिलती है। इस प्रकार बनाव बिगाड़ बराबर चलते रहते हैं। लोकगायक एवं गायिकाओं का यह स्वभाव बहुत दिनों से चला आ रहा है कि यदि उन्हें किसी कवि की रचना पसंद आ गई तो उसे तोड़ मरोड़कर अपनी बोली के अनुकूल बना लेती हैं। ऐसा करते समय कभी कवि का नाम निकाल दिया जाता है और कभी रहने दिया जाता है। प्रमाण के लिए आज भी ऐसे लोकगीत सुने जा सकते हैं - जो सूर, कबीर, तुलसी एवं मीरा के प्रकाशित ग्रंथों में जिस तरह मिलेंगे लोकगायकों के कंठ पर उनका वह रूप नहीं होगा। कुछ लोकगीतों में तो अनायास ही उनके नाम डाल दिए गए हैं। यह प्रवृत्ति हिंदी ही नहीं अन्य भाषाओं के लोकसाहित्य में भी पाई जाती है। कुछ विद्वानों का कहना है कि ऐसे भजन तथा गीत लोककवियों द्वारा स्वयं बना लिए गए हैं और उनकी उपयोगिता को बढ़ाने के लिए उच्च एवं बहुश्रुत कवियों के नाम जोड़ दिए गए ताकि अधिकांश लोग ऐसे गीतों को याद कर लें। पर यह बात है नहीं। लोककवि इसी स्थल पर तो उदार होता है। ऐसे बहुत से भजन लोकजीवन में न जाने कब से चले आ रहे हैं जिनके रचनाकारों के बारे में पता ही नहीं चलता। सत्य तो यह है कि इस प्रकार के भजनों की संख्या नामयुक्त भजनों की संख्या से कहीं अधिक है और वे सरसता में भी नामधारी भजनों से घटकर नहीं हैं। लोकगायकों की एक प्रवृत्ति यह भी होती है कि वे स्थानीय घटनाओं को तुरंत भावबद्ध कर लेते हैं, जैसा 1934 के बिहार भूकंप के समय हुआ था। बहुत दिनों से चली आ रही आंचलिक कथात्मक सामग्रियाँ इसी प्रवृत्ति की देन हैं। घटनाप्रधान प्रबंध एवं लोककथाएँ इस प्रवृत्ति से जन्म तो पा जाती हैं किंतु दीर्घ जीवन मात्र उनको मिलता है जो जनमानस को अधिक कुशलता के साथ छूती हैं।

लेकिन आज की शिक्षा प्रणाली के प्रसार के कारण हम अपने ही देश, समाज व संस्कृति की प्राचीन परम्पराओं से दूर हो गये हैं और थोड़े से शब्दों की कोठरी में कैद हैं।उन शब्दों की परिधि हमें अपने ही देश में विदेशियों सा बनाये हुए है। इसीलिए यह प्रश्न उठता है कि वह देश कहां है जहां वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाणभट्ट, भवभूति जैसी महान विभूतियों की आत्माएं निवास करती हैं। कहां गयीं वे संस्कृति की परम्परायें जिन पर देश व समाज आज भी गर्व करता है ? कहीं ऐसा तो नहीं कि हम भौतिकवादी रहन -सहन से अपने देश की परम्पराओं, संस्कृति, सभ्यता से दूर हो गये हैं अथवा हमारे अल्पज्ञान का विशाल अभिमान देश को शान्ति प्रदान करने वाली उस हवा का आनन्द लेने नहीं देता अथवा हमारे बीच विदेशी संस्कृति -संस्कार और भाषा लोहे की दीवार बने खड़े हैं यही वह प्रश्न हैं जोकि विवश करते हैं कुछ सोचने के लिये जिनके कारण हम काफी दूर खड़े हैं अपनी भाषा, संस्कृति और सभ्यता से।

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि भूतकाल में रचा गया सभी लोकसाहित्य जीवित है और आज जिनका निर्माण हो रहा है उनका अंत कभी नहीं होगा। सच तो यह है कि इस साहित्य की विधाएँ युगप्रभाव को स्वीकार करके अपना रूप बराबर बदलती रहती हैं। इधर पचास वर्ष के भीतर रचे गए साहित्य को देखने से यह बात स्पष्ट भी हो जाती है। इस अवधि में गाँवों को जितनी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें अधिकांश का समावेश लोकसाहित्य में हो चुका है। प्राचीन लोकसाहित्य में आए जादू के उड़न खटोले को छोड़कर इस युग के लोकसाहित्य ने सीधे सीधे हवाई जहाज को स्वीकार किया है। वैसे लोकसाहित्य में बैलगाड़ी, घोड़ा, ऊँट, हाथी तथा नौका आदि वाहन अब भी जीवित हैं किंतु मोटर एवं रेलगाड़ी ने भी अपना स्थान बना लिया है। वर्तमान काल में होनेवाले नव निर्माणों को भी उक्त साहित्य में स्थान मिलता जा रहा है। इन साहित्यिक रचनाओं के साथ वे सभी लक्षण भी लगे हुए हैं जो उन्हें दीर्घ जीवन प्रदान करते हैं। प्राय: विद्वान् लोग यह कहा करते हैं कि यदि विस्तृत लोकसाहित्य का संग्रह नहीं कर लिया गया तो उनका लोप हो जाएगा। बात सही है क्योंकि युगप्रभाव के कारण प्राचीन रचनाएँ अनुपयुक्त प्रतीत होने लगती हैं और फिर धीरे धीरे लुप्त हो जाती हैं, जैसा कि इस समय हो भी रहा है। सिनेमा के गीतों ने गाँवों में अपना स्थान बना लिया है जिससे लोकगीत क्षीणता को प्राप्त हो रहे हैं। शिक्षा का प्रसार होने के कारण भी गाँवों की बोलियों में गीत गानेवाले पुरुषों एवं स्त्रियों का अभाव होता जा रहा है। ऐसा लग रहा है कि कुछ दिनों में विभिन्न संस्कारों के अवसर पर गाए जानेवाले प्राचीन लोकगीतों का लोप हो जाएगा और उनके स्थान पर नवीन गीत स्थान पाएँगे या यदि इच्छा हुई तो लोकसाहित्य के संग्रहों का देख-देख कर पढ़ी लिखी स्त्रियाँ गीत गाकर काम चलाएँगी। आटा पीसनेवाली कल गाँव में पहुँच चुकी है और भी बहुत से यंत्रों का प्रसार होता जा रहा है इसलिए "ज़ंतसर" (जाँत के गीत) तथा कुछ अन्य श्रम संबंधी गीतों की कमी होती जा रही है।

इसी तरह वर्तमान युग की घटनाएँ भी इसमें स्वीकार की जा रही हैं। झाँसी की रानी, कुँवर सिंह, गांधी जी, सुभाषचंद्र, भगत सिंह, खुदीराम एवं चंद्रशेखर आजाद आदि लोकसाहित्य में प्रतिष्ठा के साथ जीवित हैं। ये वीर सेनानी उसी कड़ी में जोड़े गए हैं जिनमें प्राचीन काल के वीरों के नाम आते हैं।

उपर्युक्त विवेन से लोकसाहित्य का स्थान स्पष्ट हो जाता है किंतु धरातल से उठनेवाले इस साहित्य ने अपना एक शीर्षस्थ स्थान भी बनाया है जहाँ उसे वैदिक साहित्य के समकक्ष आसन प्राप्त है। प्रमाण यह है कि हमारे लोकजीवन के बहुत से और विशेषकर सांस्कारिक तथा धार्मिक कार्य वैदिक मंत्रों से पूर्ण होते हैं। जहाँ ये मंत्र संस्कृत में पढ़े जाते हैं वहीं ग्राम्याओं द्वारा गाए जानेवाले लोकगीत तथा लोकाचार पर आधारित अन्य क्रियाकलाप भी चलते रहते हैं। एक ओर पुरोहित मंत्राच्चार करता है तो दूसरी ओर ग्रामीण स्त्रियाँ गीत गाती हैं। मुंडन, कर्णवेध, यज्ञोपवीत तथा विवाह आदि संस्कारों पर और मकान, धर्मशाला, कुंआँ, तालाब तथा पोखर आदि का शुभारंभ करते समय भी मंत्र तथा लोकगीत साथ-साथ चलते हैं। ऐसा एक ही सांस्कारिक एवं धार्मिक तथा परमार्थ का कार्य लोकजीवन में नहीं मिलता जिसमें वैदिक साहित्य के साथ लोकसाहित्य को स्थान न प्राप्त हो।

सन्दर्भ सूचि